अथ सप्तविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अलौकिक दीप्ति (दिव्य रोचन)

समास्त्वाग्नऽऋतवो वर्द्धयन्तु संवत्सराऽऋषयो यानि सत्या।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वाऽआ भाहि प्रदिशश्चतस्रः॥१॥

१. प्रभु 'अग्नि' से कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! या राष्ट्र को उन्नत करनेवाले अग्रेणी राजन्! **त्वा**=तुझे **समाः**=मास **ऋतवः**=ऋतुएँ तथा **संवत्सराः**=वर्ष **वर्द्धयन्तु**=बढ़ानेवाले हों, अर्थात् प्रतिमास प्रतिऋतु व प्रतिवर्ष तुझे आगे बढ़ा हुआ ही देखूँ। तू उन्नत और उन्नतर होता चले। २. **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **त्वा वर्द्धयन्तु**=तुझे बढ़ानेवाले हों, तत्त्वद्रष्टाओं के सम्पर्क में आकर तेरा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले। 'मास, ऋतुएँ व संवत्सर' अनुकूल होकर जहाँ इस अग्नि को शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ बना रहे थे वहाँ ये तत्त्वद्रष्टा इसके ज्ञान को बढ़ाकर इसे बौद्धिक स्वास्थ्य प्राप्त करानेवाले होते हैं। ३. **यानि सत्या**=जो भी सत्य हैं, वे सब तेरे जीवन का अङ्ग बनकर तुझे बढ़ानेवाले हों। **'मनः सत्येन शुध्यति'** इस मनुवाक्य के अनुसार ये सत्य तुझे मानस स्वास्थ्य देनेवाले हों। ४. तू शरीर, मन व बुद्धि के त्रिविध स्वास्थ्य को प्राप्त करके **दिव्यने रोचनेन**=अलौकिक दीप्ति से **संदीदिहि**=चमकनेवाला बन। ५. प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार दीप्त होकर तू **विश्वा**=सब **चतस्रः प्रदिशः**=चारों विस्तृत दिशाओं को **आभाहि**=सब दृष्टिकोणों से दीप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—मासों, ऋतुओं व वर्षों की अनुकूलता हमें शारीरिक स्वास्थ्य दे। तत्त्वद्रष्टा लोग हमारी बौद्धिक प्रगति का कारण बनें। सत्य-व्यवहार हमारे मानस को पवित्र करे। इस प्रकार हम एक अलौकिक दीप्ति से चमकानेवाले बनें और अपने चारों ओर प्रकाश फैलानेवाले हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**सामिधेन्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पुरुषार्थ से सौभाग्य

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च बोधयैनमुच्च तिष्ठ महते सौभगाय।
मा च रिषदुपसत्ता तेऽअग्ने ब्राह्मणास्ते यशसः सन्तु माऽन्ये॥२॥

१. 'अग्नि'=प्रगतिशील जीव से ही प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने!** तू **सं इध्यस्व च**=सम्यक् दीप्त होनेवाला बन। केवल शरीर का स्वास्थ्य, केवल मानस भद्रता व केवल मस्तिष्क की दीप्ति यह 'समिन्धन' नहीं है। तू तीनों को दीप्त करके समिद्ध हो। २. **च**=और **एनम्**=इन अपने समीपवर्ती बन्धुओं को भी **प्रबोधय**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनाने का प्रयत्न कर। स्वयं ज्ञानी बन और ओरों को ज्ञान देनेवाला हो। ३. तू **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य व ऐश्वर्य के लिए **उत् तिष्ठ च**=सदा उद्योग करनेवाला हो। आलस्य ही तो सौभाग्य को नष्ट करनेवाला है। उद्योग सौभाग्य का मूल है। ४. इस बात का तू सदा ध्यान रखना कि सौभाग्य तेरे मस्तिष्क को विकृत न कर दे और तेरी क्रियाएँ पड़ोसियों की

परेशानी का कारण न बन जाएँ। **ते उपसत्ता**=तेरा पड़ोसी (समीप रहनेवाला) **मा रिषत्**=तेरी किसी भी क्रिया से हिंसित न हो। ५. हे **अग्नेः**=प्रगतिशील जीव! **ब्राह्मणः**=ज्ञानी पुरुष तथा **यशसः**=यशस्वी व्यक्ति ही **ते सन्तु**=तेरे हों, अर्थात् ऐसे लोगों का ही तेरे यहाँ आना-जाना हो **मा अन्ये**=इनसे भिन्न अर्थात् (उज्जड) बदमाश लोग तेरे न हों, तेरा घर उन लोगों का अड्डा न बन जाए।

भावार्थ—'अग्नि'=प्रगतिशील जीव वह है जो चमकता है, चमकाता है, पुरुषार्थ से सौभाग्यशाली होता है। पड़ोसियों से मधुरता से वर्त्तता है, उसके घर में ज्ञानी, यशस्वी पुरुषों का आना-जाना होता है।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

गृह में सतत जागरण

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणाऽइमे शिवोऽअग्ने संवरणे भवा नः।
सपत्नहा नोऽअभिमातिजिच्च स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्॥३॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **इमे ब्राह्मणः**=ये ब्राह्मण **त्वा वृणते**=तेरा वरण करते हैं, अर्थात् 'कौन व्यक्ति हमारे जाने योग्य हैं?' ऐसा विचार होने पर ये ब्राह्मण लोग तेरा वरण करते हैं। तुझे इस योग्य समझते हैं कि तेरे अन्न को वे स्वीकार कर लें। २. **संवरणे**=इस संवरण के होने पर, अर्थात् जब ये ब्राह्मण तेरे घर पर आने-जानेवालें हों तब हे **अग्ने**=अग्नि के समान प्रकाशमय जीवनवाले! तू **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाला **भव**=हो। उत्तम संसर्ग तुझे अधिक प्रकाशमय जीवनवाला बनाये और तू लोगों का और अधिक कल्याण करनेवला हो। ३. तू **नः**=हमारे **सपत्नहा**=शत्रुओं का नाश करनेवाला बन। एक ज्ञानी, प्रगतिशील पुरुष ने अपने काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतकर अपने सम्पर्क में आनेवालों के काम-क्रोधादि को, ज्ञान के प्रकाश के द्वारा नष्ट करने के लिए यत्नशील होना है, परन्तु इस सारे कार्य को करते हुए इसे **अभिमातिजित् च**=अभिमान को निश्चय से जीतनेवाला बनना है। इसके जीवन में अभिमान होगा, तो इसकी अपनी सारी उन्नति समाप्त हो जाएगी, औरों का क्या कल्याण करेगा? ४. अतः अग्ने! तुझे चाहिए कि **स्वे गये जागृहि**=तू अपने घर में सदा जागता रह। 'हमारे शरीर में रोग न आएँ, मन में वासनाएँ न आएँ, इसका एक ही उपाय है और वह यह कि हम अपने कर्त्तव्य व उद्देश्य का स्मरण करते हुए **अप्रयुच्छन्**=किसी भी प्रकार का प्रमाद न करते हुए अपने जीवनयात्रा के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते ही चलें।

भावार्थ—हम ब्राह्मणों के लिए वरणीय बनें। ब्राह्मणों से वृत होकर सबका कल्याण करनेवाले हों। काम-क्रोधादि को नष्ट करें, अभिमान को जीतें और इस शरीररूप गृह में सदा सावधान होकर जागरित रहें।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देशज वस्तु का प्रयोग

इहैवाग्नेऽअधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन्पूर्वचितो निकारिणः।
क्षत्रमग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्द्धतां तेऽअनिष्टृतः॥४॥

१. हे **अग्ने**=अपने राष्ट्र को उन्नत करनेवाले जीव! **इह एव**=अपने राष्ट्र में ही **रयिम्**=धन को **अधिधारया**=आधिक्येन धारण कर। तू यथासम्भव अपनी देशज वस्तुओं का ही प्रयोग कर, जिससे रुपया विदेश में न जाए। २. तेरा सारा व्यवहार ऐसा हो कि **पूर्वचितः**=

पूर्वनाम में, ब्रह्मचर्याश्रम में—तीन बार नाचिकेतस् अग्नि का चयन करनेवाले, अर्थात् सबसे पूर्व ५ वर्ष तक माता के शिक्षणालय में सच्चरित्रता की अग्नि का चयन करनेवाले, इसके बाद ८ वर्ष तक पिता के शिक्षाणालय में शिष्टाचार की अग्नि का चयन करनेवाले और अन्त में आचार्य के शिक्षणालय में ज्ञानादि का चयन करनेवाले पूर्वचित लोग, जो **निकारिणः**=नितरां यज्ञकरणशील हैं अथवा ज्ञान व कर्म के समुच्चय के अतिशय से जो औरों को नीचा दिखानेवाले हैं, अर्थात् जीत जानेवाले हैं। वे **त्वा**=तुझे **मा निक्रम्**=नीचा करनेवाले न हों, अर्थात् तू उनसे पराजित न किया जा सके, तू स्वयं 'सच्चरित्रता, शिष्टाचार व ज्ञानरूप अग्नियों' का चयन करनेवाला बन तथा तेरा जीवन नितरां यज्ञशील हो। ३. हे अग्ने! **तुभ्यम्**=तेरे लिए **सुयमम्**=उत्तम संयमवाला **क्षत्रम्**=बल **अस्तु** हो, संयम से उत्पन्न बल तुझे सब क्षत्रों से बचानेवाला हो। ४. तेरा व्यवहार सदा ऐसा हो कि **ते उपसत्ता**=तेरे समीप रहनेवाला तेरा पड़ोसी भी **अनिष्टृतः**=किसी प्रकार से हिंसित न होता हुआ **वर्धताम्**=बढ़नेवाला हो।

भावार्थ—हम राष्ट्र का रुपया, स्वदेशी का प्रयोग करते हुए, राष्ट्र में ही रखने का प्रयत्न करें। हम 'सच्चरित्र, शिष्टाचार व ज्ञान में' आगे बढ़कर यज्ञशील हों, संयम के द्वारा बल की साधना करें तथा हमारा कोई भी व्यवहार पड़ोसी की हिंसा करनेवाला न हो।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सबल कर्म

क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सꣳरभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेये यतस्व।
सजातानां मध्यमस्थाऽएधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥५॥

१. हे **अग्ने**=अग्नि की भाँति शत्रुओं को भस्मसात् करनेवाले जीव! **क्षत्रेण**=बल के साथ **स्व आयुः**=अपने जीवन को **संरभस्व**=समारब्ध कर, अर्थात् अपने जीवन में सबल कार्यों का करनेवाला बन। २. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मित्रेण**=(मित्र=सूर्य) सूर्योदय के साथ ही, अर्थात् दिन के प्रारम्भ से ही **मित्रधेये यतस्व**=इस प्रकार यत्नशील हो कि तू अपने मित्रों का धारण करनेवाला बने ('यथा मित्राणि धार्यन्ते तथा यत्नं कुरु'—उ०)। अपने लिए तो कौवा भी जीता है, तू केवल अपने लिए जीनेवाला न बन। ३. तू **सजातानाम्**=समान जन्मवालों का, हमउम्रवालों का, **मध्यमस्था एधि**=मध्यस्थ हो, अर्थात् यदि कभी किन्ही दो में संघर्ष हो जाए तो वे दानों तुझे मध्यस्थ बनाने के लिए सहर्ष उद्यत हों। यह होगा तभी जब तेरा जीवन यज्ञमय होगा। ४. हे अग्ने! पथप्रदर्शक! तेरा जीवन ऐसा सुन्दर हो कि तू **राज्ञाम्**=राजाओं का भी **विहव्यः**=विशिष्टरूप से पुकारने योग्य बने। ५. हे अग्ने! इस प्रकार के जीवनवाला बनकर तू **इह**=यहाँ मानव-जीवन में **दीदिहि**=खूब ही चमकनेवाला हो।

भावार्थ—हमारे कार्य शक्तिशाली हों, हमारा सारा दिन ऐसे कार्यों में बीते जो मित्रों का धारण करनेवाले हों, उनके परस्पर के झगड़ों को हम निपटानेवाले बनें। राजाओं के भी पुकारने योग्य हों तथा देदीप्यमान जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

दुष्ट-संग से दूर

अति निहोऽअति स्त्रिधोऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यꣳसहवीराꣳरयिं दाः॥६॥

१. हे **अग्ने**=जीवन में आगे बढ़ने के स्वभाववाले जीव! **निहः**=(निहन्तॄन्) हिंसकवृत्तिवालों

को **अति** =(अतिक्रम्य) अतिक्रमण करके, लाँघकर, अर्थात् इनके संग से सदा बचकर, २. **स्त्रिधः**=(स्त्रिध कुत्सावाक्) कुत्सित आचरणवालों को, अर्थात् संयम की मर्यादा के तोड़नेवालों को **अति**=लाँघकर ३. **अचित्तिम् अति**=अन्यमनस्कतावालों के, अध्ययन व संज्ञान की प्रवृत्ति के अभाववालों को लाँघ के तथा ४. **अरातिम् अति**=न दान की वृत्तिवाले, कृपण व अयज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को लाँघकर हे **अग्ने**=प्रगतिशील! तू **विश्वा दुरिता**=सब पापों को **सहस्व**=अभिभूत कर, अपने से दूर कर। वस्तुतः दुरितों से दूर होने के लिए दुष्ट मनोवृत्ति व दुष्टाचरणवालों से दूर रहना आवश्यक है। ५. यह 'अग्नि' प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अथ**=अब, जबकि हमने हिंसकों, कुत्सिताचरणों, अज्ञानियों व कृपणों से दूर रहकर अपनी वृत्तियों को सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है तो आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सहवीराम्**=वीर-पुत्रों से युक्त **रयिम्**=धन को **दाः**=दीजिए। वस्तुतः जब हमारा जीवन सदाचार-सम्पन्न होता है तब हमें धन प्राप्त होता है और वह धन वीर सन्तानों से युक्त होता है।

भावार्थ—हम दुष्टाचारणों को त्यागें, जिससे उत्तम धन और वीर सन्तानों से युक्त हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

प्रभुभक्त का जीवन

अनाधृष्यो जातवेदाऽअनिष्टृतो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह।
विश्वाऽआशाः प्रमुञ्चन्मानुषीर्भियः शिवेभिरद्य परि पाहि नो वृधे॥७॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **इह**=इस कर्म में वर्त्तमान हुआ-हुआ तू, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार उत्तम मार्ग में चलता हुआ तू **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **दीदिहि**=प्रकाशमय कर दे। २. तू स्वयं (क) **अनाधृष्यः**=काम-क्रोध आदि भावनाओं से धर्षित न होनेवाला बन, (ख) **जातवेदाः**=(जातं वेदो धनं ज्ञानम् यस्मात्) ज्ञानी बन तथा संसार के लिए आवश्यक धन को कमानेवाला बन, (ग) **अनिष्टृतः**=तू किन्ही भी रोगादि से हिंसित न हो। तेरे मन में क्रोधादि न आएँ और शरीर में रोग न हों, (घ) इस प्रकार तू **विराट्**=विशेषरूप से चमकनेवाला हो, और (ङ) अपने में **क्षत्रभृत्**=बल को धारण करनेवाला हो। उस बल का तू पोषण कर जो तुझे सब क्षतों से बचानेवाला हो। ३. इस प्रकार सुन्दर जीवनवाला बनकर **मानुषीः**=मनुष्य-सम्बन्धिनी नीतियों को 'जन्म, जरा, मृति, दैन्य, शोक' आदि मनुष्य को प्राप्त होनेवाले भयों से ऊपर उठकर **नः**=हमारे दिये हुए इस शरीरादि को **अद्य**=आज **शिवेभिः**=कल्याणों के द्वारा, शुभकर्मों के द्वारा **परिपाहि**=सर्वतः सुरक्षित करनेवाला हो। और **नः वृधे**=तू हमारे वर्धन के लिए हो, अर्थात् अपने आदर्श जीवन से लोगों पर यह प्रभाव डालनेवाला बन कि 'प्रभुभक्तों का जीवन इस प्रकार सुन्दर हुआ करता है'।

भावार्थ—प्रभुभक्त अपने सुन्दर जीवन से प्रभु के यश का वर्धन करनेवाला होता है। वह क्रोधादि से धर्षित नहीं होता, ज्ञानी बनता है, रोगों से अहिंसित होता है, चमकता है, बल का धारण करता है, सब दिशाओं को चमकानेवाला बनता है, मनुष्य के जीवन में आनेवाले भयों से ऊपर उठता है, शिव भावनाओं से युक्त होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आचार्य का कर्तव्य

बृहस्पते सवितर्बोधयैनꣳसꣳशितं चित्सन्तराꣳसꣳशिशाधि।
वर्धयैनं महते सौभगाय विश्वऽएनमनु मदन्तु देवाः॥८॥

१. 'अग्नि' गतमन्त्रों में वर्णित जीवन को बनाने के लिए आचार्य से कहते हैं कि हे **बृहस्पते**=ब्रह्मणस्पते, ज्ञान के स्वामिन्! **सवितः**=ज्ञान के बीज को विद्यार्थी के मस्तिष्क में बोनेवाले आचार्य! **एनम्**=इस तेरे समीप प्राप्त हुए-हुए विद्यार्थी को **बोधय**=तू उद्बुद्ध ज्ञानवाला कर, इसे ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान देनेवाला तू हो। २. **संशितम् चित्**=माता-पिता के द्वारा शिक्षित किये हुए को भी **सन्तराम्**=अब खूब ही **संशिशाधि**=सम्यक्तया शिक्षित कर। इसक जीवन को संयत Disciplined बनाने का ध्यान कर। ३. **एनम्**=इसको **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य व ऐश्वर्य के लिए **वर्धय**=बढ़ाइए। इसे इस प्रकार शिक्षित कीजिए कि यह संसार में आकर महनीय, पूजनीय, अर्थात् उत्तम मार्गों से कमाये गये ऐश्वर्य को अर्जित करनेवाला हो। ४. इसके जीवन को ऐसा बनाइए कि समावृत्त होने पर **देवाः**=सब विद्वान् **एनम् अनु**=इसका लक्ष्य करके **मदन्तु**=हर्ष को प्राप्त हों। इस ज्ञानपूर्ण, व्रती व अर्जनक्षम जीवन को देखकर सभी को प्रसन्नता हो।

भावार्थ—आचार्य ने विद्यार्थी के जीवन में ज्ञान (Knowledge) शिक्षा (Education) व अर्जनक्षमता (सौभाग्य) को पैदा करना है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

भय से मुक्ति

अमुत्रभूयादध यद्यमस्य बृहस्पतेऽअभिशस्तेरमुञ्चः।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्माद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः॥९॥

१. **हे बृहस्पतेः**=ज्ञान के स्वामी आचार्य! आप अपने उपनीत इस शिष्य को **अमुत्रभूयात्** सदा परलोक में होने से **अमुञ्चः**=छुड़ाइए, अर्थात् यह प्रतिक्षण परलोक का ही ध्यान न करता रहे, यह इस लोक का भी ध्यान करे। २. **अध**=और **यत्**=जो **यमस्य**=यम का, मृत्यु की देवता का भय है उससे भी, आप इसे छुड़ाइए। यह मौत से ही न डरता रहे। ३. हे आचार्य! इसे आप (क) **अभिशस्तेः**=लोकापवाद से मुक्त कीजिए, (ख) साथ ही 'अभिशस्तेः अमुञ्चाः' का यह भी अर्थ है कि इसे लोकापवाद प्राप्त न हो। ४. **अश्विना**=प्रणापान जो **देवानाम् भिषजा**=देवों के वैद्य हैं, देवलोग दवाइयों पर आश्रय न करके प्राणापान की शक्ति का ही आश्रय करते हैं, वे प्राणापान **शचीभिः**=अपनी शक्तियों के द्वारा हे **अग्ने**=विद्यार्थी की उन्नति के साधक आचार्य! **अस्मात्**=इससे **मृत्युम्**=मृत्यु को **प्रत्यौहताम्**=दूर करें। (प्रति प्रेरयताम् अन्यत्र नयताम्—उ०)।

भावार्थ—हम सदा परलोक का ही ध्यान न करते रह जाएँ, यमजनित मृत्यु से न डरते रहें, लोकापवाद के भय से मुक्त हों। प्राणापान ही हमारे वैद्य हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराडनुष्टप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

उत्+उत्तर+उत्तम

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥१०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सदा डरते न रहकर **वयम्**=हम **उत् तमसः परि** उत्कृष्ट प्रकृति के बन्धन को छोड़कर, प्रकृति से ऊपर उठकर आगे बढ़ें। प्रकृति को पूर्णतया छोड़ने का देहवान् के लिए सम्भव नहीं, परन्तु इसमें उलझना भी सर्वथा हेय है। 'प्रकृति निकृष्ट हो' यह बात नहीं, भौतिक शरीर के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, परन्तु इससे ऊपर उठना ही ठीक है। २. इससे ऊपर उठकर **उत्तरम् स्वः**=तुलना में अधिक उत्कृष्ट

प्रकाशमय जीव को, अर्थात् आत्मस्वरूप को **पश्यन्तः**=देखते हुए आगे बढ़ें। प्रकृति उत्कृष्ट है, परन्तु जीव उत्कृष्टतर है। प्रकृति जड़ है, जीव पूर्ण चैतन्य न होते हुए भी चैतन्य कर्त्ता तो है ही। ३. यह आत्मदर्शी पुरुष कहता है कि हम **देवत्रा देवम्**=देवों में भी देव, देवों को भी बल प्राप्त करानेवाले **उत्तमं ज्योतिः**=सर्वोत्तम ज्योति परमात्मा को जो **सूर्यम्**=सूर्य की तरह देदीप्यमान है, **अगन्म**=प्राप्त हों। ४. मन्त्र में 'उत्, उत्तर व उत्तम' शब्द प्रकृति, जीव व परमात्मा का संकेत कर रहे हैं। प्रकृति उत्कृष्ट है, जीव उत्कृष्टतर है और परमात्मा उत्कृष्टतम। प्रकृति 'सत्' है जीव 'सत्+चित्' है और परमात्मा 'सत्+चित्+आनन्द' है।

भावार्थ—हम उत्कृष्ट प्रकृति का उत्तम प्रयोग करते हुए इससे ऊपर उठें, अपने प्रकाशमयरूप को देखते हुए ज्योतियों में सर्वोत्तम ज्योति परमात्मा के समीप पहुँचने के लिए यत्नशील हों। वही हमारा लक्ष्य हो।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

चमकता हुआ (सुप्रतीक)

ऊर्ध्वाऽअस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचीꣳष्यग्नेः।
द्युमत्तमा सुप्रतीकस्य सूनोः॥११॥

१. **अस्य अग्नेः**=इस उत् से उत्तर तथा उत्तर से उत्तम की ओर जानेवाले अग्नि की **समिधः**=दीप्तियाँ **ऊर्ध्वा भवन्ति**=उत्कृष्ट होती हैं। इसकी एक-एक इन्द्रिय शक्ति-सम्पन्न होती है, सब इन्द्रियाँ दीप्त प्रतीत होती हैं। स्वास्थ्य की दीप्ति इसे चमकानेवाली होती है। २. इस अग्नि की **शुक्रा**=अत्यन्त शुद्ध **शोचींषि**=मानस पवित्रताएँ, मानस संकल्पों की शुद्धता में **ऊर्ध्वा**=अत्यन्त उत्कृष्ट होती हैं। इसका शरीर नीरोग होता है तो इसका मन भी पूर्ण निर्मल होता है। ३. इस शारीरिक स्वास्थ्य व मानस निर्मलता के कारण **सुप्रतीकस्य सूनोः**=अत्यन्त प्रसन्नवदनवाले व्यक्ति का ज्ञान **द्युमत्तमा**=अत्यन्त द्युतिवाला होता है।

भावार्थ—प्रगतिशील जीव की इन्द्रियाँ शक्तियों से चमकती हैं, इसकी मानस पवित्रताएँ, इसका ज्ञान अत्यन्त दीप्त होते हैं। इस प्रकार शरीर व चमकते हुए मस्तिष्कवाला यह अग्नि चमकते हुए मुखवाला व प्रसन्नवदन होता है।

ऋषिः—अग्निः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

माधुर्य, नैर्मल्य व दीप्ति

तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देवः। पथो अनक्तु मध्वा घृतेन॥१२॥

१. यह 'अग्नि' **तनूनपात्**=अपने शरीर को न गिरने देनेवाला है। सात्त्विक व पौष्टिक भोजनों का सेवन करने से यह शरीर को ढीला नहीं होने देता। २. **असुरः**=(असुमान् प्राणवान्—उ०) यह प्राणशक्ति-सम्पन्न होता है। यह प्राणशक्तिप्रद भोजनों का सेवन करता है और संयमी जीवन बिताता हुआ प्राणशक्ति में कमी नहीं आने देता। ३. **विश्ववेदाः**=सब आवश्यक धनों का अर्जन करता है और सम्पूर्ण ज्ञानवाला होता है। ४. **देवः**= दानादि गुणयुक्त होता है। 5. देवेषु देवः। यह **पथः**=अपने जीवन-मार्गों को **मध्वा**=माधुर्य से और **घृतने**=(घृ क्षरण) मलों के क्षरण, अर्थात् नैर्मल्य से तथा (घृ दीप्ति) ज्ञान की दीप्ति से **अनक्तु**=अलंकृत करे, अर्थात् इसके सारे कार्यों में माधुर्य, नैर्मल्य व दीप्ति का पुट हो।

भावार्थ—हम शरीर को स्वस्थ व प्राणशक्ति-सम्पन्न बनाएँ, ज्ञानी व धनी बनें, देववृत्ति-वाले, देवों के भी देव बनें। हमारे व्यवहार मुधर, निर्मल व समझदारी को लिये हुए हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

विश्वारः= सबसे वरणीय

मध्वा यज्ञं नक्षसे प्रीणानो नराशꣳसो अग्ने। सुकृद्देवः सविता विश्ववारः॥१३॥

१. **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=अपने श्रेष्ठतम कर्मों को **नक्षसे**=तू व्याप्त करता है अथवा माधुर्य से तू उत्तम कर्मों की ओर जाता है (नक्ष गतौ), सदा उन कर्मों में लगा रहता है। २. उन कर्मों को तू किसी के दवाब से नहीं करता। **प्रीणानः**=प्रियता व तृप्ति का अनुभव करता हुआ तू उन कर्मों की ओर जाता है और इसीलिए **नराशंसः**=मनुष्यों से तू स्तुति किया जाता है। प्रसन्नतापूर्वक उत्तम कर्मों में लगे रहनेवाला व्यक्ति क्यों लागों की प्रशंसा का पात्र न होगा? ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! इस प्रकार तू **सुकृत्**=सदा शोभन कर्मो को करनेवाला है। **देवः**=दीप्तिमान् होता है। **सविता**=ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले निर्माण के ही कार्यों में तू लगता है, राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ाता है और **विश्ववारः**=सबका वरणीय बनता है और सबके हित के कार्यों का ही वरण करनेवाला होता है।

भावार्थ—'अग्नि' वह है जो यज्ञादि कार्यों को प्रसन्नता व मधुरता के साथ करता है। सबकी प्रशंसा का पात्र होता है, शोभनकारी, दीप्तिमान्, उत्पादक व विश्ववरणीय होता है।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**वह्निः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

प्रभु—प्राप्ति के साधन

अच्छायमेति शवसा घृतेनेडानो वह्निर्नमसा। अग्निꣳस्रुचोऽअध्वरेषु प्रयत्सु॥१४॥

१. **अयम्**=यह 'अग्नि' **अच्छ एति**=उस प्रभु की ओर जाता है। किन साधनों से? (क) **शवसा**=अपने बल से। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**=यह आत्मा निर्बल से तो लभ्य नहीं है, (ख) **घृतेन**=मलों के क्षरण द्वारा निर्मल मन से। मलिन मन में प्रकाश नहीं दिखता, (ग) **घृतेन**=(दीप्ति) ज्ञान की दीप्ति से। सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही प्रभु का दर्शन होगा **'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्यया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**। (घ) **ईडानः**=(ईड् स्तुतै=स्तुति करता हुआ ही मनुष्य प्रभु का दर्शन करता है, (ङ) **वह्निः**=जो अपने नियत कर्म का ठीक वहन करता है। अकर्मण्य न बनकर प्रत्येक कर्म को फल-प्राप्तिपर्यन्त चलाता ही है, (च) **नमसा**=नमन के द्वारा। अभिमानी को प्रभु का दर्शन नहीं होता। २. यह प्रभु की ओर इस प्रकार जाता है जैसे **प्रयत्सु अध्वरेषु**=यज्ञों के प्रज्वलित होने पर **स्रुचः**=चम्मच आदि **अग्निम्**=अग्नि की ओर जाते हैं। यहाँ खाली चम्मच अग्नि की ओर नहीं जाता, घृत से भरा हुआ चम्मच ही अग्नि की ओर जाता है। इसी प्रकार स्वास्थ्य, ज्ञान व नैर्मल्य की दीप्ति से परिपूर्ण मनुष्य ही प्रभु की ओर जाता है।

भावार्थ—प्रभु की ओर जाने के लिए आवश्यक है कि (क) हम बलवान बनें, (ख) नैर्मल्य व दीप्तिवाले हों, (ग) कार्यभार का उठानेवाले हों, (घ) नम्र हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

चेतिष्ठ बनना

स यक्षदस्य महिमानमग्नेः सऽईं मन्द्रा सुप्रयसः। वसुश्चेतिष्ठो वसुधातमश्च॥१५॥

१. **सः**=यह गत मन्त्र में वर्णित साधनों का प्रयोग करके प्रभु के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करनेवाला व्यक्ति **अस्य अग्नेः**=इस सर्वाग्रणी, सबकी उन्नतियों के साधक प्रभु की **महिमानम्**=महिमा को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। प्रभु-सम्पर्क से यह उपासक भी

प्रभु-जैसा बन जाता है। २. **सः**=वह **ईम्**=निश्चय से **सुप्रयसः** (प्रयस्=अन्न)=उत्तम सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाले की **मन्द्रा**=हर्षजनक वृत्तियों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। सात्त्विक अन्न के सेवन से उसके चित्तम में सदा आह्लादमयी वृत्ति बनी रहती है। राजसी भोजन उसके मन को राग-द्वेष से ही भरेगा और तामसी अन्न के सेवन के परिणामस्वरूप उसे आलस्य, प्रमाद व निद्रा के रोग घेरे रहेंगे। ३. इस प्रकार यह प्रभु- सम्पर्क से प्रभु की महिमा को अपने साथ जोड़नेवाला बनता है और सात्त्विक अन्न के सेवन से मानस प्रसाद को पाने के लिए यनशील होता है, परिणामतः **वसुः**=अत्यन्त उत्तम निवासवाला होता है **चेतिष्ठः**=अधिक-से-अधिक चेतनावाला होता है, **वसुधातमः च**=और (धनानाम् दातृतमः-उ०) धनों का अतिशयेन दान देनेवाला होता है।

भावार्थ-प्रभु-सम्पर्क से हम प्रभु की महिमा को प्राप्त करें। सात्त्विक अन्न के सेवन से मानस आह्लाद का लाभ करें। उत्तम निवासवाले, ज्ञानी व धनों का खुब दान करनेवाले हों।

ऋषिः-**अग्निः**। देवता-**देव्यः**। छन्दः-**निचृदुष्णिक्**। स्वरः-**ऋषभः**।

देवों की अनुकूलता

द्वारो॑ दे॒वीर॒न्वस्य॒ विश्वे॑ व्र॒ता द॑दन्तेऽअ॒ग्नेः। उ॒रु॒व्यच॑सो॒ धाम्ना॒ पत्य॑मानाः॥१६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की महिमा को अपने साथ सम्पृक्त करनेवाले **अस्य अग्नेः**=इस प्रगतिशील जीव के **विश्वे**=सब देव **देवी द्वारः अनु**=दिव्य द्वारों के अनुकूल होते हैं। जैसे शरीर में अग्निदेव वाणी के रूप से रहता है, सूर्य चक्षु के रूप से तथा अन्य देव भी भिन्न इन्द्रिय-द्वारों के रूप में इस शरीर में रह रहे हैं, अतः इन देवों का शरीर के दिव्य द्वारों से किसी प्रकार का विरोध नहीं। इन दैवों का इस अग्नि के दिव्य द्वारों के साथ सदा आनुकूल्य बना रहता है। यह अनुकूलता ही इन इन्द्रियों का पूर्ण स्वास्थ्य है। यही 'सुख'=इन्द्रियों का ठीक होना है। इनकी प्रतिकूलता में इन्द्रियों की स्थितिविकृत होती है और यही 'दुःख' है। २. प्रगतिशील जीव **व्रता ददन्ते**=अपने को व्रतों के बन्धनों में बाँधनेवाले व्यक्ति ही उन्नत होते हैं। ३. ये व्रतों के धारण करनेवाले अग्नि **उरुव्यचसः**=बड़ी व्यापकतावाले होते हैं। इनके जीवनों में संकुचितता नहीं होती और ४. वे **धाम्ना पत्यमानाः**=तेजों से ऐश्वर्यशाली बनते हैं। इनको प्रत्येक इन्द्रिय की तेजस्विता प्राप्त होती है। ये धनों से ऐश्वर्यशाली बनने की बजाय तेजस्विता से ऐश्वर्यशाली होते हैं।

भावार्थ- 'अग्नि' को देवों की अनुकूलता प्राप्त होती है, ये व्रतों को धारण करते हैं, व्यापक मनोवृत्तिवाले व तेजस्विता से ऐश्वर्यशाली होते हैं।

ऋषिः-**अग्निः**। देवता-**यज्ञः**। छन्दः-**विराडुष्णिक्**। स्वरः-**ऋषभः**।

यज्ञ की अहिंसकता (अध्वरता)

तेऽअ॑स्य॒ योष॑णे दि॒व्ये न योना॑ऽउ॒षासा॒नक्ता॑। इ॒मं य॒ज्ञम॑वतामध्व॒रं नः॥१७॥

१. **अस्य**=इस 'अग्नि'=प्रगतिशील जीव के **योना**=घर में **ते**=वे **दिव्ये न योषणे न**=दिव्य पत्नियों के समान **उषासानक्ता**=दिन और रात **इमम् यज्ञम्**=इस यज्ञ को **अवताम्**=रक्षित करें। उस यज्ञ को रक्षित करें जो **नः**=हमारी **अध्वरम्**=न हिंसा होने देनेवाला है। २. घर में पत्नी 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस सूत्र के अनुसर यज्ञ में संयोग देने के लिए ही तो है। 'दिव्ये' विशेषण पत्नी की अभौतिक वृत्ति का संकेत देता है। संसार के भोगों में अनासक्ति हाने पर ही यज्ञियवृत्ति का विकास सम्भव है। 'दिन-रात' हमारी दिव्य

पत्नियों के समान हों और ये हमारे घरों में निरन्तर यज्ञ को अविच्छिन्न रक्खें, अर्थात् हमारे घरों में प्रातः-सायं यज्ञ अवश्य चले। ३. अथर्ववेद के अनुसार, **'सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता'** १९।५५।३ सायंकाल किया हुआ अग्निहोत्र प्रातः तक सौमनस्य को देनेवाला होता है और **'प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता'** १९।५५।४ प्रातःकाल में किया हुआ अग्निहोत्र सायंकाल तक सौमनस्य देनेवाला होता है। इस प्रकार ये **उषासानक्ता**=दिन-रात दिव्य पत्नियों को कहते हैं कि **'वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम'** १९।५५।४=हे अग्ने! तू सब वसुओं को, निवास के लिए आवश्यक वसुओं को देनेवाला है। हम तेरा समिन्धन करते हुए सौ वर्षपर्यन्त वृद्ध हों, फूलें-फलें।

भावार्थ—हम घरों में दिन-रात यज्ञ करनेवाले हों। ये यज्ञ हमारे लिए अहिंसक बनें। हमें अहिंसित करके ये हमारे फूलने-फलने का कारण बनें।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

दैव्य होता

दैव्या होतारा ऊर्ध्वमध्वरं नो ऽग्नेर्जिह्वामभि गृणीतम्। कृणुतं नः स्विष्टिम्॥१८॥

१. हे प्राणापानो! **दैव्या होतारा**=प्राणापान **नः**=हमारे **अध्वरम्**=हिंसा न करनेवाले यज्ञ को **ऊर्ध्वम् कृणुतम्**= उत्कृष्ट करें, अर्थात् हमारे जीवन में यज्ञ को प्रधानता प्राप्त हो। **अग्नेः**=मुझ प्रगति के पथ पर प्रस्थान की कामनावाले की **जिह्वाम्**=जिह्वा को **अभिगृणीतम्**=स्तुति करनेवाला बनाओ। मेरी जिह्वा दिन-रात (अभि=दोनों ओर, जगारित में व स्वपन में भी) प्रभु का स्तवन करनेवाली हो। ३. हे प्राणपानो! **नः**=हमारी **स्विष्टिम्**= उत्तम इष्टि को, इच्छा व गति को **कृणुतम्**=करो। हमारे मनों में सदा शुभ इच्छाएँ ही उत्पन्न हों, हमारे संकल्प शिव ही हों। ४. हमारे प्राणापान ''दैव्य होता'' बनें—देव को प्राप्त करानेवाले हों और हममें त्याग की वृत्ति को पनपानेवाले हों, ये सदा त्यागपूर्वक ही अदन करें। वस्तुतः होतृत्व ही इन्हें दैव्य बनाता है। जो जितना त्याग की वृत्तिवाला बनता है उतना ही प्रभु के समीप पहुँचनेवाला होता है। प्रभु की प्राप्ति के लिए भौतिक वस्तुओं का त्याग आवश्यक है। शरीर में अन्य इन्द्रियों की तुलना में प्राणापान का होतृत्व उत्कृष्ट है, अतः ये प्राणापान **दैव्य**=देव को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—हम में यज्ञियवृत्ति हो, हमारी जिह्वा प्रभु का नामोच्चारण करे और हमारी इच्छाएँ व क्रियायें उत्तम हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

तीन देवियाँ

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳसदन्त्विडा सरस्वती भारती। मही गृणाना॥१९॥

१. 'अग्नि'=प्रगतिशील जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आपकी कृपा से **तिस्रः देवीः**=ये तीन देवियाँ, दिव्य भावनाएँ **इदं बर्हिः**=इस मेरे वासनाशून्य हृदय में **आसदन्तु**=आसीन हों। वस्तुतः दिव्य भावनाओं के बीज बोने के लिए हृदयक्षेत्र को तैयार करना नितान्त आवश्यक है। कोई भी बीज खेत को तैयार करके ही बोया जाता है। इस हृदयक्षेत्र में भी मन्थन=चिन्तनरूप हल चलाके वासनारूप घास-फूस को निकाल देने पर ही उत्तम गुणों के बीज बोये जा सकते हैं। २. ये तीन देवियाँ क्रमशः **इडा**=पृथिवीस्थानीय

देवता है, **सरस्वती**=अन्तरिक्षस्थानीय है और **भारती**=द्युलोकस्थानीय देवता है। 'इडा' निघण्टु में 'अन्न' का नाम है (२.६) जीवनयज्ञ में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग 'इडा' का है। वस्तुतः इस अन्न पर ही जीवन का निर्माण निर्भर करता है–"जैसा अन्न वैसा मन' =You are what you eat ३. मन सरस्वान् है और उस मन की शक्ति 'सरस्वती' है। इसके बाद 'भारती' 'भरत आदित्यः तस्य भाः भारती' नि० ८।१'=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान है। एवं, अग्नि चाहता है कि उसके हृदय में ये तीन बातें अङ्कित हो जाएँ कि (क) मैं सदा यज्ञिय सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाला बनूँगा, (ख) मैं अपनी मानस शक्ति को सदा प्रबल बनाऊँगा तथा (ग) मेरा ज्ञान सूर्य के समान चमकनेवाला होगा। ४. मेरी ये सब देवियाँ, दिव्य भावनाएँ **मही**=(मह पूजायाम्) महनीय–पूजनीय हों तथा **गृणाना**=प्रभु का स्तवन करनेवाली हों। 'यज्ञिय अन्न' मेरे शरीर को स्वस्थ बनाए, मानस संकल्प मन को परिष्कृत करे तथा ज्ञान मुझे पवित्र बनाकर प्रभु-प्रवण करे।

भावार्थ–मेरे जीवन में 'यज्ञिय अन्न', 'मानस शक्ति' व 'सूर्यसम देदीप्यामान ज्ञान' तीनों का महत्त्वपूर्ण स्थान हो।

ऋषिः–**अग्निः**। देवता–**त्वष्टाः**। छन्दः–**निचृदुष्णिक्**। स्वरः–**ऋषभः**।

कैसा धन?

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु त्वष्टा सुवीर्यम्। रायस्पोषं वि ष्यतु नाभिमस्मे ॥२०॥

१. जीवन के उत्थान में धन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः अग्नि=प्रगतिशील जीव इस मन्त्र में प्रार्थना करता है कि **त्वष्टा**=देवशिल्पी=सब धनों का निर्माण करनेवाला प्रभु **नः**=हमें **तत्**=उस **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **विष्यतु**=विशेषरूप से दे, छोड़े, अर्थात् हमपर उस धन की वर्षा करे जो (क) **तुरीपम्**=(तुरा वेगेन आप्नोति प्रापयति) शीघ्रता से कार्यों को सिद्ध करनेवाला है अथवा **तुर**=(Great strength), वेद में प्रबलशक्ति का वाचक हो, उस 'तुरीं पाति' तुरी की रक्षा करनेवाला है। प्रभु हमें वह धन दें जोकि हमारी शक्ति की रक्षा करता है। (ख) **अद्भुतम्**=यह धन अभूतपूर्व हो, महान् हो। ऐसा हो जैसाकि पहले किसी ने प्राप्त नहीं किया। (ग) **पुरुक्षु**=यह धन 'पुरुक्षु' पालन-पूरण करनेवाला हो अथवा यह 'पुरूणां क्षु' बहुत के निवास का कारण हो, अर्थात् जो केवल हमारे अपने लिए ही विनियुक्त न हो जाए। (घ) **सुवीर्यम्**=यह हमें उत्तम पराक्रमवाला बनाए। इसके द्वारा हम अपना आहार-विहार इतना सुन्दर बना सकें कि हम उत्तम वीर्य सम्पन्न हो पाएँ और (ङ) अन्त में यह धन **अस्मे**=हमारे लिए **नाभिम्** (नह बन्धने)=परस्पर बन्धन का कारण हो। हमें एक-दूसरे के साथ बाँधनेवाला हो, हमारे बन्धुत्व को करनेवाला हो, हमें परस्पर लड़ा न दे। २. इन गुणों से युक्त धन को प्राप्त करके ही हम अपने जीवनों को धन्य बना पाते हैं। अन्यथा विपरीत धन हमारे निधन का कारण हो जाता है। इस उत्तम धन को प्राप्त करके हम 'अग्नि' बनें, आगे बढ़नेवाले बनें। इस बात का सबसे अधिक ध्यान करें कि यह हमारा धन 'पुरुक्षु' बहुत को निवास देनेवाला हो। ऐसा होने पर यह धन हमें 'प्रजापति' बनाएगा और इस प्रजापति को प्रभु अगले मन्त्र में दान देने की प्रेरणा देते हैं।

भावार्थ–प्रभु हमें धन दें, वह धन जो कार्यसाधक है, शक्ति की रक्षा करनेवाला है, अभूतपूर्व है, बहुत का निवासक है और उत्तम वीर्यवान् बनाता है। प्रभु हमें वह धन दें जो हमें परस्पर बाँधनेवाला हो, न कि लड़ानेवाला।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

प्रजापति की दानवृत्ति

वनस्पतेऽव सृजा ररांणस्त्मना देवेषु। अग्निर्हव्यꣳशमिता सूदयाति॥२१॥

१. प्रभु प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि प्रजापति से कहते है, हे **वनस्पते**=(वन संभक्ति) सम्भजनीय धन के रक्षक! तू इस धन का रक्षक है, धन तो मेरा (प्रभु का) है, तू इसका स्वामी नहीं, रक्षकमात्र है, यह धन तुझे सम्भजन-सम्यक् रीति से बाँटने के लिए दिया गया है, **अवसृज**=तू इसको भिन्न-भिन्न स्थानों में देनेवाला बन। **रराणः**=देना तेरा स्वभाव हो (रादाने) २. **त्मना**=तू स्वयं देनेवाला बन। तुझे औरों से प्रेरणा दिये जाने की आवश्यकता न हो। **देवेषु**=तेरी यह दानक्रिया देवों के विषय में हो। तू देवों के प्रति देनेवाला बन। जिससे इस धन का विनियोग ठीक ही हो। बिना सोचे अपात्र में दिया गया धन तुझे भी 'तामसदाता' बना देगा। ३. प्रभु प्रजापति से कहते हैं कि तूने यह भी ध्यान करना कि **शमिता**=रोगों को शान्त करनेवाला **अग्निः**=यह यज्ञ की अग्नि **हव्यम्**=तुझसे होमे गये हव्य पदार्थों को सूदयाती सब देवों में क्षरित करता है, सूक्ष्म कणों में विभक्त करके इस हव्य को सब देवों में फैला देता है (द०) और इस प्रकार इस सारे वायुमण्डल को रोगकृमियों से शून्य कर देता है।

भावार्थ—हम धनों को देवों को देनेवाले बनें। यज्ञों में हव्य-पदार्थों का प्रयोग करके वायुमण्डल को रोगकृमिशून्य करते हुए प्रजापति बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

दान के तीन स्थान

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदऽइन्द्राय हव्यम्। विश्वेदेवा हविरिदं जुषन्ताम्॥२२॥

१. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! **स्वाहा कृणुहि**='अग्नये स्वाहा' आदि स्वाहाकार मन्त्रों से स्वाहा करनेवाला बन। यह ध्यान रख कि अपना त्याग 'स्वस्य हा' अपने लिये त्याग है, अर्थात् इस त्याग से हमारा अपना ही लाभ है। २. हे **जातवेद**=उत्पन्न धनवाले व्यक्ति! तू **इन्द्राय**=राष्ट्र के शत्रुओं का विद्रावण करेनवाले राजा के लिए **हव्यम्**=कर (Tax) को **कृणुहि**=स्वयं देनेवाला हो, अर्थात् तूने धन कमाया है, तू जातवेद (विद् लाभे) बना है, तो इस धन में से राष्ट्रकार्य के सञ्चालन के लिए उचित कर तुझे देना ही चाहिए। ३. तुझसे दी हुई **इदम् हविः**=इस हवि को **विश्वेदेवाः**=सब देव, दिव्य वृत्तिवाले लोग **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें, अर्थात् तेरे घर में 'अतिथियज्ञ' नियमपूर्वक चले। 'अग्ने स्वाहा कृणुहि' शब्दों से देवयज्ञ का निर्देश हुआ है, 'इन्द्राय हव्यम्' से ब्रह्मयज्ञ का, चूँकि करमें दिये गये धन से ही राष्ट्र में ब्रह्म, अर्थात् ज्ञान का प्रचार होगा तथा 'विश्वदेवाः जुषन्ताम्' शब्दों से अतिथियज्ञ ध्वनित हुआ है। एवं, इन तीन यज्ञों में हमारा धन उदारतापूर्वक व्ययित हो। 'विश्वेदेवाः' शब्दों में माता-पिता भी देव होने से आ जाते हैं, अतः पितृयज्ञ भी यहाँ सङ्कलित हो जाता है।

भावार्थ—हम धन को कमाएँ और उस धन को देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ व अतिथि आदि यज्ञों में विनियुक्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वसिष्ठ का सुन्दर जीवन

पीवोऽअन्ना रयिवृधः सुमेधाः श्वेतः सिषक्ति नियुतामभिश्रीः।
ते वायवे समनसो वि तस्थुर्विश्वेन्नरः स्वपत्यानि चक्रुः॥२३॥

१. **पीवो अन्नाः**=(पुष्टान्नम् यस्य) पुष्टिकम अन्नवाला, अर्थात् जो सदा पौष्टिक अन्न का ही सेवन करता है, जिसके भोजन का मापक पौष्टिकता है, नकि स्वाद। २. **रयिवृधः** धन का वर्धन करनेवाला, संसार-यात्रा के लए आवश्यक धन जुटानेवाला ३. **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला ४. **श्वेतः**=(श्वि गतिवृद्ध्योः) गतिशीलता व क्रिया द्वारा अपनी शक्तियों का वधर्न करनेवाला ५. **नियुताम्**=(अश्वानाम्) इन्द्रियरूप घोड़ों की **अभिश्रीः**=दोनों ओर शोभावाला, जिस समय ज्ञानवाहिनी नाड़ियों से प्रभाव अन्दर जा रहे होते हैं और इसके बाद जब क्रियावाहिनी नाड़ियों से ये प्रभाव बाहर की ओर आते हैं—इन दोनों अवसरों पर (अभि) इन्द्रियों की क्रिया को बड़ी शोभा से करनेवाला यह **वसिष्ठ**=उत्तम निवासवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि ही **सिषक्ति**=(सेवते) प्रभु का सेवन व उपासन करता है। ६. **ते**=इस प्रकार के उपासक ही **वायवे**=उस सारे ब्रह्मण्ड को गति देनेवाले प्रभु के लिए **समनसः**=(सहमनसः) सदा मन के साथ होते हुए, अर्थात् मन को न भटकने देते हुए, **वितस्थुः**=विशेषरूप से स्थित होते हैं, अर्थात् वे ही प्रभु के सच्चे उपासक बनते है। ७. **नरः**=ये अपने को उन्नति-पथ पर प्राप्त करानेवाले लोग **इत्**=निश्चय से **विश्वा**=सब **स्वपत्यानि**=उत्तम सन्तानों के निर्माण करनेवाले कर्मों को **चक्रुः**=करते हैं। स्वयं अपने जीवनों को सुन्दर बनाते हुए ये सन्तानों के जीवनों को भी उत्तम बनाते हैं।

भावार्थ—'वसिष्ठ' का अपना जीवन उत्तम होता है, वह सन्तानों को भी उत्तम बनाता है। यह अन्न का पौष्टिकता के दृष्टिकोण से सेवन करता है, धन का उचित वर्धन करनेवाला होता है, उत्तम बुद्धिवाला, क्रियाशीलता से अपना वर्धन करनेवाला, ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को शोभायुक्त बनानेवाला होता है। यही इसकी 'उपासना' होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

धनार्जन व धन का दान

रा॒ये नु यं ज॒ज्ञतू॒ रोद॑सी॒मे रा॒ये दे॒वी धि॒षणा॑ धाति दे॒वम्।
अध॑ वा॒युं नि॒युत॑: सश्चत॒ स्वाऽउ॒त श्वे॒तं वसु॑धितिं नि॒रे॒के ॥२४॥

१. **इमे रोदसी**=ये द्यावापृथिवी, मस्तिष्क तथा शरीर **नु**=अब **यम्**=जिसको **राये**=धन के लिए **जज्ञतुः**=(उत्पादयामासतुः, म०) विकसित शक्तिवाला करते हैं, अर्थात् स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क, इस वसिष्ठ को धन-उत्पादन के योग्य बनाते हैं। २. इस **देवम्**=(दिव=व्यवहार) व्यवहार को उचित प्रकार से करनेवाले पुरुष को **देवी**=प्रकाशमयी **धिषणा**=बुद्धि अथवा व्यवहारकुशल वाणी **राये**=ऐश्वर्य के लिए **धाति**=स्थापित करती है। यह बुद्धि से तथा वाणी के ठीक प्रयोग से उचित धन कमानेवाला बनता है। ३. **अध**=अब धन कमाने के बाद इसके **स्वाः**=आत्मा के वश में हुए-हुए, अपने बने हुए ये **नियुतः**=इन्द्रियरूप घोड़े **वायुम्**=आत्मतत्त्व को **सश्चत्**=सेवित करते हैं, अर्थात् यह पुरुष धन में नहीं फँस जाता, धन कमाते हुए भी यह अध्यात्मवृत्ति का बना रहता है **उत**=और **निरेके**=निश्चितरूप से इस धन के विरेचन, दान करने पर उस **श्वतेम्**=गति के द्वारा वर्धन करनेवाले **वसुधितिम्**=सब वसुओं को धारण करनेवाले, सब धनों के देनेवाले उस प्रभु को ये सेवित करते हैं। संक्षेप में, यह 'वसिष्ठ' धन तो कमाते हैं, परन्तु धन को कमाते समय भी उसमें फँसते नहीं, कुछ अध्यात्मवृत्ति के बने रहते हैं और धन का दान करके प्रभु के सच्चे उपासक बन जाते है। इनको यह भूलता नहीं कि सब वसुओं का धारण करनेवाले वे प्रभु ही हैं, वे प्रभु ही **श्वेत**=गति द्वारा हमारा वर्धन करते हैं।

भावार्थ– 'वसिष्ठ' अपने मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाता है, अपनी बुद्धि व वाणी को व्यवहारकुशल करता है और इस प्रकार धन का अर्जन करता है, परन्तु इस धनार्जन को करते हुए भी अध्यात्मवृत्ति का बना रहता है और इस धन का दान करके प्रभु का ही बन जाता है। उस प्रभु को ही सब धनों का दाता व वर्धन करनेवाला मानता है।

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवों का प्राण

आपो॑ ह॒ यद् बृ॑ह॒तीर्विश्व॒मायन् गर्भं॑ दधा॒ना ज॒नय॑न्तीर॒ग्निम्।
ततो॑ दे॒वाना॒ꣳसम॑वर्त्त॒तासु॒रेक॒ः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥२५॥

१. गतमन्त्र का वसिष्ठ प्रभु का ध्यान करता है, प्रभु को सम्पूर्ण प्रकृति के गर्भ में देखता है और सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पिण्डों को प्रभु के गर्भ में। इस प्रकार प्रभु की हिरण्यगर्भ रूप में उपासना करने के कारण प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'हिरण्यगर्भ' ही हो जाता है। यह ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है कि **यत्**=अब **बृहतीः**=ये अत्यन्त बढ़े हुए महान् **आपः**=व्यापक तत्त्व (साम्यावस्थारूप में प्रकृति) इस जगत् का उपादानकारणभूत एक फैला हुआ मेघ (Nebula=नभस्), **विश्वम्**=उस सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु को **गर्भं दधाना**=अपने गर्भ में धारण करते हुए **अग्निम्**=अग्नि आदि देवों को—द्युलोक में सूर्यरूप से रहनेवाली, अन्तरिक्ष में विद्युत् और पृथिवी पर अग्निरूप से रहनेवाली इस अग्नि को **जनयन्तीः**=पैदा करता हुआ **आयन्**=गति करता है। **ततः**=उस समय **देवानाम्**=इन सब देवों का **असुः**=प्राण **एकः**=यह अद्वितीय परमात्मा ही **समवर्त्तत**=होता है। वस्तुतः शरीर का वर्धन जैसे अन्तःस्थित आत्मतत्त्व पर निर्भर है, इसी प्रकार इस संसार के उपादानकारणभूत उस **आपः**=व्यापकतत्त्व का वर्धन अन्तःस्थित प्रभु पर निर्भर है। इन **आपः**=साम्यवस्थावाली प्रकृति से बने हुए इन सूर्यादि देवों का प्राण यह अद्वितिय परमात्मा ही है। उस प्रभु की दीप्ति से ही सूर्यादि ये सब देव दीप्त होते रहे हैं। २. उस **कस्मै**=अनिर्वचनीय महिमावाले **दैवाय**=दीप्तरूप प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से अथवा आत्मसमर्पण से **विधेम**=हम पूजा करनेवाले हों।

भावार्थ—सृष्टि के मूल व्यापक तत्त्व में प्रभु गर्भरूप से स्थित न होते तो उस मूलतत्त्व से अग्नि आदि देवों की उत्पत्ति ही न होती। वे प्रभु ही इन सूर्यादि देवों के देवत्व का कारण हैं। उस अनिर्वचनीय महिमावाले देव के प्रति हम समर्पण द्वारा आराधना करनेवाले हों।

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु की अध्यक्षता में

य॒श्चिदापो॑ महि॒ना प॒र्यप॑श्य॒द्दक्षं॑ दधा॒ना ज॒नय॑न्तीर्य॒ज्ञम्।
यो दे॒वेष्वधि॑ दे॒व ए॑क॒ आसी॑त् कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥२६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित सृष्टि का मूलतत्त्वभूत व्यापक प्रकृति प्रभु की अध्यक्षता में इस संसार को जन्म देती है। **यः चित्**=जो निश्चय से **महिना**=अपनी महिमा से **आपः**=उस व्यापक मूलतत्त्व का **पर्यपश्यत्**=सम्यक्तया Supervise देखता है, जो तत्त्व **दक्षं दधानाः**=अपने अन्दर उस शक्ति के पुञ्ज प्रजापति प्रभु को धारण कर रहे हैं और **यज्ञम्**=इस संगत (not disunited) संसार को **जनयन्तीः**=जन्म दे रहे हैं। प्रकृतिगर्भ में प्रभु का निवास न हो तो प्रकृति इन चराचर पदार्थों को जन्म नहीं दे सकती, उस समय प्रकृति एक जड़ तत्त्व

(Inert matter) के रूप में ही पड़ी रह जाएगी, संसार न बनेगा। उस चेतन प्रभु की सर्वव्यापकता का ही यह परिणाम है कि यह सारा संसार एक संगत सृष्टि के रूप में उत्पन्न होता है, २. परमात्मा वह है **यः**=जो **देवेषु**=इन सूर्यादि देवों में **एकः**=अद्वितीय **अधिदेवः**=अधिष्ठातृ देव **आसीत्**=है। इन देवों को उसी से तो देवत्व प्राप्त हो रहा है **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'**। ३. उस **कस्मै**=अनिर्वचनीय, आनन्दस्वरूप **देवाय**=द्युतिमय प्रभु के लिए हम **हविषा**=समर्पण द्वारा **विधेम**=पूजा करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की अध्यक्षता में प्रकृति से सम्बद्ध यह सृष्टि होती है। प्रभु देवों के भी देव हैं, उस प्रभु के प्रति समर्पण से हम प्रभु की पूजा करनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सुभोजस रयि

प्र याभिर्यासि दाश्वाꣳसमच्छा नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे।
नि नो रयिꣳसुभोजसं युवस्व नि वीरं गव्यमश्व्यं च राधः॥२७॥

१. **वायो**=(वा गतिगन्धन्योः) सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले व सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **याभिः नियुद्भिः**=जिन नियुत् नामक अश्वों से **दावांसम्**=दान की वृत्तिवाले यजमान की **अच्छा**=ओर **इष्टये**=यज्ञों की सिद्धि के लिए **दुरोणे**=गृह में **प्रयासि**=प्रकर्षेण प्राप्त होते हो। इन नियुतों के द्वारा **नः**=हमें **सुभोजसम्**=उत्तमता से हमारा पालन करनेवाले **रयिम्**=धन को **नि** (युवस्व)=दीजिए तथा **वीरम्**=हमें वीर सन्तान **नि**=(युवस्व) प्राप्त कराइए, और **गव्यम्**=उत्तम गौवोंवाले **अश्व्यं च**=और उत्तम घोड़ोंवाले **राधः**=कार्यसाधक धन को **नि** (युवस्व)=दीजिए। २. यहाँ मन्त्र में इन्द्रियाश्वों को 'नियुत्' कहा गया है, इन्हें निश्चयपूर्वक 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' बुराई से दूर करना और अच्छाई में लगाना चाहिए। ३. घर के लिए 'दुरोण' शब्द का प्रयोग हुआ है, दुर्=बुराई का उसमें से 'ओण् अपनने' अपनयन करना है। घर वही है जिसमें से बुराई को दूर किया गया है। इस बुराई को दूर करने के लिए ही 'इष्टि' यज्ञों का घर में प्रचलन आवश्यक है। यज्ञिय वृत्ति उसी की बनती है जो 'दाश्वान्' देनेवाला होता है। इस देनेवाले को ही प्रभु प्राप्त होते है। ४. रयि व धन वही है जो हमारा उत्तमता से पालन करता है, 'सुभोजस्' है। दान की वृत्तिवाले होने पर पति-पत्नी उत्तम सन्तान प्राप्त करते हैं। इन्हें वह सम्पत्ति प्राप्त होती है जो इनके घर में गौवों व अश्वों की कमी नहीं होने देती तथा इनके सब कार्यों को सिद्ध करनेवाली होती है 'राध् सिद्धौ'। ५. 'गव्यं व अश्व्यं' का अर्थ यह भी हो सकता है कि जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम बनाती है तथा कर्मेन्द्रियों को सशक्त करती है। उस समय 'वीर' की भी भावना सन्तान न लेकर 'वीरता' ही लेना चाहिए। हम वही धन चाहते हैं जो (क) हमें वीर बनाये (ख) हमारी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम करे तथा (ग) हमें उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला बनाये। इस प्रकार अपने निवास को उत्तम बनानेवाला यह व्यक्ति प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' होता है।

भावार्थ—(क) प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों को प्राप्त कराएँ (ख) हम घरों में यज्ञशील व दान देनेवाले बनें, (ग) हमें पालक धन प्राप्त हों, (घ) उस धन को प्राप्त हों, जो हमें वीर बनाये, हमारी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को उत्तम करे। अथवा हमें वह धन चाहिए जिससे हमारे सन्तान वीर हों और हमारा घर गौवों व अश्वों से भरा-पूरा हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शतिनी-सहस्त्रिणी (नियुत्)

आ नो नियुद्भिः शतिनीभिरध्वरꣳसहस्त्रिणीभिरुप याहि यज्ञम्।
वायोऽअस्मिन्त्सवने मादयस्व यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥२८॥

१. हे **वायो**=संसार के सञ्चालक प्रभो! आप **शतिनीभिः**=सौ वर्षपर्यन्त अपने कार्य को उत्तमता से करनेवाली तथा **सहस्त्रिणीभिः**=सदा प्रसन्नता (स+हस्) के साथ रहनेवाली **नियुद्भिः**=इन अश्वरूप इन्द्रियों के साथ **नः**=हमारे **अध्वरम्**=कुटिलता व हिंसा से रहित जीवन-यज्ञ को **उपयाहि**=समीपता से प्राप्त होओ, अर्थात् प्रभुकृपा से हमें इस जीवन-यज्ञ को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए वे इन्द्रियाँ प्राप्त हों जो सौ वर्ष तक कार्य करनेवाली हों तथा सदा आनन्द के साथ अपने कार्य में लगी रहनेवाली हों। इन इन्द्रियों को प्राप्त करके हम अपने इस जीवन-यज्ञ को सचमुच 'अध्वर' कुटिलता व हिंसा से रहित बना सकें। २. हे वायो! **अस्मिन् सवने**=इस यज्ञात्मक जीवन में **मादयस्व**=हमें हर्ष को प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से यज्ञों में हम आनन्द का अनुभव करें। ३. **यूयम्**=आप **नः**=हमें **सदा**=सर्वदा **स्वस्तिभिः**=इन यज्ञों से सिद्ध होनेवाले अविनाशों व उत्तम स्थितियों द्वारा **पात**=पालित करो।

भावार्थ—(क) हे प्रभो! आपकी कृपा से हम जीवनयज्ञ में शतवर्षपर्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कार्य की क्षमतावाली इन्द्रियों को प्राप्त करें। (ख) आप हमें यज्ञ में आनन्द को अनुभव करनेवाला बनाइए, हमारी रुचि यज्ञप्रवण हो, (ग) यज्ञों से हमारी स्थिति उत्तम हो और हम सचमुच 'वसिष्ठ' बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सुन्वन् का घर

नियुत्वान्वायवा गह्ययꣳशुक्रोऽअयामि ते। गन्तासि सुन्वतो गृहम्॥२९॥

१. गत मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' प्रस्तुत मन्त्र में आनन्द का अनुभव करता हुआ 'गृत्समद' बनता है 'गृणाति, माद्यति' स्तुति करता है और हर्षित होता है। यह प्रभु से कहता है कि हे **वायो**=सब गतियों को सिद्ध करनेवाले प्रभो! **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले आप **आगहि**=मुझे प्राप्त होओ, अर्थात् आपकी कृपा से मैं उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त करूँ। २. **अयम्**=यह मैं **शुक्रः**=गतिशील बनकर (शुच गतौ) और गतिशीलता से दीप्त जीवनवाला होकर (शुच दीप्तौ) **ते अयामि**=आपके समीप प्राप्त होता हूँ। प्रभु को प्राप्त करने का यही मार्ग है कि वह गतिशील हो, गतिशीलता से शुद्ध जीवनवाला हो। ३. वे प्रभु **सुन्वतः**=यज्ञशील के अथवा अपने शरीर में सोम का (शक्ति का) सवन करनेवाले के **गृहम्**=घर को **गन्तासि**=प्राप्त होते हैं। मैं यज्ञशील बनूँगा व शक्ति का अपने में उत्पादन करनेवाला होऊँगा तो फिर क्यों न आपको प्राप्त करूँगा?

भावार्थ—(क) प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराएँ, (ख) हम शुद्ध जीवनवाले बनकर प्रभु को प्राप्त करें, (ग) प्रभु यज्ञशील व शक्ति सम्पादन करनेवाले को प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**पुरुमीढः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

माधुर्य का शिखर

वायो शुक्रोऽअयामि ते मध्वोऽअग्रं दिविष्टिषु।
आ याहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता॥३०॥

१. गतमन्त्र का 'गृत्समद' जब लोकहित में प्रवृत्त होता है तब वह 'पुरुमीढ'=बहुत पर सुखों की वृष्टि करनेवाला व 'अजमीढ' (अज गतिक्षेपणयोः)=क्रियाशीलता से बुराइयों को दूर करके कल्याण की वृष्टि करनेवाला बनता है और प्रभु से कहता है कि हे **वायो**=गतिशील प्रभो! **शुक्रः**=गतिशील बनकर (शुक गतौ) मैं **ते अयामि**=आपको प्राप्त होता हूँ। २. आपकी उपासना से शक्ति-सम्पन्न होकर मैं **दिविष्टिषु**=(दिव् इष्टि) ज्ञानयज्ञों में **मध्वः अग्रम्**=माधुर्य के अग्रभाग को **अयामि**=प्राप्त कराता हूँ, अर्थात् अत्यन्त माधुर्य से जनहित के लिए ज्ञानयज्ञ का विस्तार करता हूँ, प्रजाओं में ज्ञान को फैलाने का प्रयत्न करता हूँ और इस ज्ञानविस्तार के कार्य में अत्यन्त माधुर्य को स्थिर बनाये रखता हूँ। ३. हे **देव**=सब ज्ञानदीप्तियों के देनेवाले प्रभो! आप ही **स्पार्हः**=स्पृहणीय हैं। चाहिए तो यही कि हम आपको प्राप्त करने का प्रयत्न करें, आपको प्राप्त कर लेने पर सब-कुछ प्राप्त हो ही जाता है। हे देव! **नियुत्वता**=उत्तम इन्द्रियोंवाले इस 'शरीर-रथ' के हेतु से **आयाहि**=आप हमें प्राप्त होइए। आपकी प्राप्ति में, आपकी उपासना में ही इन इन्द्रियाश्वों को निर्मल करने की शक्ति है। आप हमें इसलिए प्राप्त होओ कि हम **सोमपीतये**=सोम का पान कर सकें, शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित रख सकें। आपके प्राप्त होने पर वासनाओं का सहज विनाश हो जाता है और यह वासना-विनाश शक्ति की रक्षा में सहायक होता है।

भावार्थ—हम शुद्ध जीवनवाले बनकर प्रभु को प्राप्त हों। ज्ञान प्रचार के कार्य में अत्यन्त माधुर्य को बनाये रक्खें। सोम की रक्षा के लिए प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले हों।

ऋषिः—**अजमीढः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पुरुमीढ का प्रभु-स्तवन

वायुरग्रेगा यज्ञप्रीः साकं गन्मनसा यज्ञम्। शिवो नियुद्भिः शिवाभिः॥३१॥

१. **वायुः**=वे प्रभु सम्पूर्ण गति का स्रोत हैं। २. **अग्रेगाः**=वे प्रभु हमें निरन्तर आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं। हमारी सब प्रकार की उन्नति प्रभुकृपा से ही तो सिद्ध होती है। ३. **यज्ञप्रीः**=यज्ञों के द्वारा वे प्रभु प्रीणित होते हैं। हम यज्ञशील बनकर प्रभु की कृपा के पात्र बनते हैं। ४. वे प्रभु **मनसा साकम्**=मन के साथ **यज्ञम् गत्**=यज्ञ को प्राप्त हों, अर्थात् जब हम यज्ञ करें तब प्रभुकृपा से हमें ऐसा उत्तम मन प्राप्त हो कि हमारी यह यज्ञिय वृत्ति और बढ़ती जाए। ५. वे प्रभु **शिवाभिः नियुद्भिः**=सदा शुभ कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले इन्द्रियाश्वों से **शिवः**=हमारा कल्याण करेनवाले हैं। इन्द्रियों की उत्तमता में ही सुख है, सु+ख।

भावार्थ—प्रभु की आराधना के लिए हम यज्ञशील हों। 'यज्ञप्रीः' प्रभु को हम यज्ञ से ही आराधित कर सकेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

नियुत्वान्

वायो ये ते सहस्त्रिणो रथासस्तेभिरा गहि। नियुत्वान्त्सोमपीतये॥३२॥

१. प्रभु का स्तवन करता हुआ गृत्समद प्रार्थना करता है—**वायो**=हे सम्पूर्ण संसार के सञ्चालक प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके **सहस्त्रिणः**=(स+हस्) प्रसन्नता से युक्त **रथासः**=ये शरीररूप रथ हैं **तेभिः**=उनके साथ **आगहि**=हमें प्राप्त होइए, अर्थात् आपकी कृपा से हम उन शरीर-रथों को प्राप्त करें, जिनमें इन्द्रियों, मन व बुद्धि सभी का विकास (हास) दीखता है, शरीर मुर्झाया-सा लगे, इन्द्रियाँ दुर्बल हों, मन मरा-सा हो और बुद्धि कुण्ठित

हो तो ऐसे शरीररूप रथ को प्राप्त करके हम क्या करेंगे? २. **नियुत्वान्**=हे प्रभो! आप प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले, अर्थात् हमें उत्तम इन्द्रियरूप घोड़ों को प्राप्त करानेवाले होकर **सोमपीतये**=हमारे सोम की रक्षा के लिए होइए। आपकी कृपा से हमारी इन्द्रियाँ उत्तम हों, विषय-वासनाओं में विचरनेवाली न हों, और इस प्रकार हमारे सोम (वीर्य) की रक्षा हो सके। इस सोम की रक्षा से हमारा शरीर-रथ 'सहस्री' होगा, हास व विकासवाला होगा।

भावार्थ— हे प्रभो! आप हमें सब शक्तियों के विकास से युक्त शरीररूप रथ प्राप्त कराइए, हमारे इन्द्रियरूप अश्व भी उत्तम हों, वे वासनाओं के शिकार न हों, जिससे हम शक्ति को सुरक्षित कर सकें।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ग्यारह, बाईस व तेतीस

एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विꣳशती च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिꣳशता च नियुद्भिर्वायविह ता वि मुञ्च॥३३॥

१. हे **स्वभूते**=सम्पूर्ण जगद्रूपी स्वकीय विभूतिवाले प्रभो! यह सम्पूर्ण जगत् आपकी ही तो विभूति है। आप जिन **एकया च दशभिः च**=एक और दस, अर्थात् ग्यारह पार्थिव दिव्य शक्तियों से तथा **द्वाभ्याम् विंशती (त्या) च**=जिन बाइस (ग्यारह पार्थिव तथा ग्यारह अन्तरिक्षलोक की) दिव्य शक्तियों से तथा **तिसृभिः च त्रिंशता च**=जिन तेतीस (ग्यारह पार्थिव, ग्यारह अन्तरिक्ष तथा ग्यारह द्युलोकस्थ) दिव्य शक्तियों से **वहसे**=इस सृष्टियज्ञ को चला रहे हो, हे **वायो**=सृष्टि-सञ्चालक प्रभो! आप **ता**=उन शक्तियों को **इष्टये**=जीवन-यज्ञ के उत्तमता से सञ्चालन के लिए **इह**=यहाँ हमारे शरीर में **नियुद्भिः**=इन्द्रियाश्वों के रूप से **विमुञ्च**=देनेवाले होओ। २. सृष्टि में तेतीस देव काम कर रहे हैं, वे सबके सब देव इस शरीर में भी रहते है, ये देव जब तक शरीर में ठीक कार्य करते रहते हैं तब तक मनुष्य पूर्ण स्वस्थ चलता है। जीवन-यज्ञ के ठीक चलने के लिए उन देवों का शरीर के अंग-प्रत्यंगों में ठीक रूप से रहना आवश्यक है। 'अग्निदेव' शरीर में रूप से रहता है तो सूर्य चक्षुरूप से, दिशाएँ श्रोत्ररूप से और वायु प्राण के रूप से। इसी प्रकार इन सब देवों के निवास से ही यह शरीर-यज्ञ चल रहा है। ३. ब्रह्माण्ड की त्रिलोकी शरीर में इस रूप से है कि शरीर पृथिवी है, हृदय अन्तरिक्ष और मस्तिष्क द्युलोक है। इनमें ग्यारह-ग्यारह देवों का निवास है और वे देव इस शरीर में होनेवाले जीवनयज्ञ को चला रहे हैं। ये देव शरीर में नियुत् रूप से हैं, इन्द्रियाश्वों के रूप से हैं। इन्द्रियाश्व नियुत् हैं, क्योंकि इन्हें निश्चय से गुणों से युक्त व अवगुणों से वियुक्त करना है 'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। प्रभु हमें देवों को इन नियुतों के रूप में देनेवाले हों, जिससे हमारा निवास यहाँ उत्तम हो और हम मन्त्र के ऋषि 'वसिष्ठ' बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे शरीर में तेतीस देवों का उत्तम निवास हो, उस उत्तम निवासवाले हम सचमुच 'वसिष्ठ' बनें।

ऋषिः—**अङ्गिरसः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

त्वष्टा के जामाता का रक्षण

तव वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत। अवाꣳस्या वृणीमहे॥३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हमारे शरीर में तेतीस देव नियुतों के रूप में रह रहे होंगे तब हमारा अंग-प्रत्यंग सबल, स्वस्थ व सुन्दर बन जाएगा और हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि

'अंगिरस' बनेंगे। यह अंगिरस प्रभुरक्षण की प्रार्थना इस रूप में करता है कि हे **वायो**= सम्पूर्ण सृष्टि के सञ्चालक! **ऋतस्पते**=सृष्टि के नियमों के स्वामिन्! **त्वष्टुः**='तूर्णमश्नुते'—नि० ८।१४। शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाले तथा ('त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः'—नि० ८।१४) स्वाध्याय के द्वारा मस्तिष्क की दीप्ति का सम्पादन करनेवाले, (त्वष्टा देवशिल्पी) दिव्य गुणों के निर्माण के लिए यत्नशील जीव की **जामातः**=(जायाम् मिमीते) बुद्धिरूपी जाया (पत्नी) का निर्माण करनेवाले! **अद्भुत**=अभूतपूर्व, अनुपम प्रभो! **तव**=तेरे **अवांसि**=रक्षणों का **आवृणीमहे**=हम सर्वथा वरण करते हैं। प्रभु सृष्टि के सञ्चालक हैं (वायु), प्रभु ने ही सृष्टि के अन्दर कार्य करनेवाले नियमों को बनाया है। ये नियम ही 'ऋत' हैं। प्रभु इन ऋतों के स्वामी हैं। प्रभु की अध्यक्षता में ये ऋत अपना कार्य कर रहे हैं। ३. ये प्रभु ही जीव को बुद्धि देनेवाले हैं। यह बुद्धि आत्मा की पत्नी के समान है, परन्तु यह बुद्धि प्राप्त तभी होती है जब जीव क्रियाशील होता है, स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है तथा अपने जीवन में दिव्यता लाने की कोशिश करता है, एक शब्द में जब यह 'त्वष्टा' बनता है। ५. वे प्रभु अद्भुत हैं, प्रभु के समान न कोई हुआ न होगा, अतः प्रभु की किसी से उपमा देना सम्भव नहीं, वे सचमुच अनुपम हैं।

भावार्थ—संसार के सञ्चालक, सृष्टि-नियमों के स्वामी स्वाध्यायशील की बुद्धि का निर्माण करनेवाले उस अनुपम प्रभु के रक्षण हमें प्राप्त हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अभि-नमन

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धाऽइव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः॥३५॥

१. गतमन्त्र का अंगिरस प्रभु-स्तवन करता हुआ अपने जीवन को सुन्दर बनाता है तो यह उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' हो जाता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **शूर**=हमारे सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! हम **त्वा**=आपकी **अभि नोनुमः**=दोनों ओर खूब स्तुति करते हैं। यही सन्ध्या है। २. हम आपका स्मरण **अदुग्धा इव धेनवः**=अदुग्ध गौवों के समान करते हैं। 'हम दुग्धदोह=गौवों की तरह अत्यन्त जीर्ण होकर आपका स्मरण करते हों' ऐसा नहीं। यौवन में ही हम आपके स्मरण में तत्पर होते हैं और आपका यह स्मरण हमें सदा युवा बनाये रखता है। ३. हम आपका स्मरण इस रूप में करते हैं कि आप (क) **अस्य जगतः**=इस जंगम संसार के **ईशानम्**=ईशान हैं, आपके स्वामित्व में ही सम्पूर्ण चर संसार चल रहा है। (ख) आप **स्वर्दृशम्**=(स्वः=सूर्य) सूर्य के समान देदीप्यमान हैं और (ग) **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **तस्थुषः**=स्थावर जगत् के **ईशानम्**=ईशान हैं। आपके आधार में ये सब पदार्थ स्थिरता से ठहरे हुए हैं। आप ही सबके आधार हैं।

भावार्थ—वसिष्ठ इसीलिए वसिष्ठ है कि वह यौवन से ही प्रभु-स्तवन में लगा है। वह चराचर का आधार प्रभु को ही जानता है, प्रभु को सूर्य के समान देदीप्यमान रूप में देखता है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अश्वायन्तः गव्यन्तः

न त्वावाँ२॥ऽअन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे॥३६॥

१. प्रभु का उपासन करता हुआ 'वसिष्ठ' शान्त जीवनवाला बनता है, अतः 'शंयु' हो जाता है। यह ऊँचा ज्ञानी बनता है, अतः 'बार्हस्पत्यः' कहलाता है। यह कहता है कि हे प्रभो! **त्वावान्**=(त्वत्सदृशः) आप-जैसा **अन्यः**=कोई और **न**=न तो **दिव्यः**=द्युलोक में होनेवाला और **न पार्थिवः**=न ही पृथ्वीलोक में होनेवाला है। आपके समान भी कोई नहीं अधिक तो हो ही कैसे सकता है? **न जातः**=न भूतकाल में आपके समान कोई हुआ, **न जनिष्यते**=न भविष्य में आपके समान कोई होगा। २. **मघवन्**=परमपूजित (पापशून्य) ऐश्वर्यवाले! **इन्द्र**=सर्वदुःखविनाशक प्रभो! **अश्वायन्तः**=उत्तम अश्वों को, कार्यों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियों को चाहते हुए **वाजिनः**=शक्ति का सम्पादन करनेवाले हम **गव्यन्तः**=गौवों को, पदार्थों का निश्चय से ज्ञान देनेवाली ज्ञानेन्द्रियों को चाहते हुए आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। आपकी आराधना से (क) हमें उत्तम सशक्त कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त हों, (ख) हम शक्ति-सम्पन्न बनें तथा (ग) विषयों का निश्चयात्मक ज्ञान देनेवली ज्ञानेन्द्रियाँ हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आप 'एकमेवाद्वितीयम्' इन शब्दों के अनुसार एक ही अद्वितीय हो। आप हमें सशक्त कर्मेन्द्रियों को, शक्ति को व उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त कराइए।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'शंयु' की प्रार्थनत्रयी

त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः॥३७॥

१. हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं व कष्टों के निवारण करनेवाले प्रभो! **कारवः**=प्रत्येक कार्य को कलापूर्ण तरीके से करनेवाले हम ('कारुः शिल्पिनि कारके') **वाजस्य**=शक्ति की **सातौ**=प्राप्ति के निमित्त **हि**=निश्चय से **त्वाम् इत्**=आपको ही **हवामहे**=पुकारते हैं। आप ही तो हमें शक्ति प्राप्त कराएँगे। हाँ, यह ठीक है कि आप शक्ति प्राप्त कराते तभी हैं जब हम आपके निर्देश के अनुसार पुरुषार्थी बनते हैं। २. हे प्रभो! **वृत्रेषु**=ज्ञान पर आवरण डाल देनेवाली कामादि वासनाओं के साथ संग्राम में विजय के लिए भी **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक **त्वा**=आपको पुकारते हैं। आपके साहाय्य के होने पर ही तो हम इन वासनाओं को जीत पाएँगे। ३. **नरः**=(नृ नये) अपने को आगे प्राप्त कराने की कामनावाले हम **अर्वतः काष्ठासु**=(Race-ground, course goal) घोड़ों के घुडदौड़ के मैदानों में **त्वा**=आपको पुकारते हैं। 'हमारे ये इन्द्रियरूप घोड़े उद्देश्य तक, उद्दिष्टस्थल तक पहुँच सकें' इसके लिए हम आपको ही पुकारते हैं। 'अर्वत' शब्द यहाँ छठी विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है। घोड़े की काष्ठा, उसका लक्ष्यस्थान ही है।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम (क) शक्ति प्राप्त करें (ख) वासना-संग्राम में विजय हों। ३. इन्द्रियरूप घोड़ों को लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले बनें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराड्बृहतीः**। स्वरः—**मध्यमः**।

शत्रुओं का धर्षण व विजय

स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया महः स्तवानोऽअद्रिवः।
गामश्वꣳरथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे॥३८॥

१. हे प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप जोकि **चित्रः**=अद्भुत हैं, जिनके समान न कोई है और न होगा, **वज्रहस्त**=(वजगतौ) सदा क्रियाशील हाथोंवाले है, अर्थात् स्वाभाविक क्रियावाले

हैं, और जो आप **धृष्णुया महः**=शत्रुओं के धर्षक तेजवाले हो **अद्रिवः** (न) अपने मार्ग से विदीर्ण न किये जानेवाले हैं—अच्युत हैं। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली आप! **स्तवानः**=स्तुति किये **गाम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को **अश्वः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को जो **रथ्यम्**=शरीररूप रथ के लिए अत्यन्त हितकर हैं, उनको **नः संकिर**=हमारे लिए दीजिए। २. आप हमे **जिग्युषे**=विजयशील पुरुष के लिए **न**=जैसे **वाजम्**=बल को प्राप्त कराते है, उसी प्रकार **सत्रा**=सचमुच शक्ति प्राप्त कराइए, जिससे जीवन-संग्राम में हम विजयी बनें। ३. 'चित्र' शब्द की भावना 'चित् र'=ज्ञान देनेवाले की है। वे प्रभु ज्ञान देकर ही तो हमें इस संसार में विजयी बनाते हैं। ४. उस प्रभु का स्तवन यही है कि हम भी **वज्रहस्त**=क्रियाशील बनें, **धृष्णुया महः**=शत्रुधर्षक तेजस्विता का सम्पादन करें, **अद्रिवः**=वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाले व दृढ़निश्चयी बनें, तभी हम प्रभु से उस शक्ति की याचना के अधिकारी बनते हैं, जो शक्ति हमें विजयी बनाती है।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त कराइए। हमें वह शक्ति दीजिए जोकि हमें विजयी बनाए।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सदावृधः सखा

कया नश्चित्रऽआ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥३९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व शरीर को प्राप्त करके यह 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनता है और प्रभु-स्तवन करते हुए कहता है कि **चित्रः**=वह ज्ञान देनेवाले अद्भुत परमात्मा **कया ऊती**=किस कल्याणकारक रक्षण के द्वारा **नः** हमारा **सदावृधः**=सदा वर्धन करनेवाला **सखा**=मित्र **आभुवत्**=होता है। वास्तव में ज्ञान देकर ही प्रभु हमारा कल्याण करते हैं, प्रभु द्वारा सतत चलनेवाला रक्षण हमारे लिए कल्याणकर होता है, इस रक्षण के द्वारा प्रभु हमारा वर्धन करते हैं और हमारे सच्चे मित्र होते हैं। २. हमारे मित्र प्रभु **कया**=अत्यन्त आनन्दमय **शचिष्ठया**=अत्यन्त शक्तिप्रद **वृता**=आवर्तन से हमारा सदा वर्धन करनेवाले होते हैं। 'दिन-रात' का एक आवर्तन (चक्र) चल रहा है, दिन में कार्य करने से शक्ति का क्षय होता है तो रात्रि हमारी टूट-फूट को ठीक-ठाक करके हमें फिर से तरोताज़ा कर देती है। इसी प्रकार शुक्ल व कृणपक्षों का आवर्तन है। फिर वर्ष में मासों व ऋतुओं का आवर्तन है। ये सब आवर्तन हमारे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होते हुए हमारी शक्ति का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का रक्षण व मास, ऋतु आदि के परिवर्तन से शक्ति का वर्धन—ये दोनों हमारे लिए कल्याणकर हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

मदानां मंहिष्ठः

कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु॥४०॥

१. वामदेव अपने को ही सम्बोधन करते हुए कहते हैं **त्वा**=तुझे **कः**=अनिर्वचनीय व आनन्दमय प्रभु, **सत्यः**=जो सत्यस्वरूप हैं तथा **मदानाम्**=ज्ञानानन्दों व उल्लासों के **मंहिष्ठः**=(दातृतम) अधिक-से-अधिक देनेवाले हैं, **अन्धसः**=आध्यायनीय सोम के द्वारा **मत्सत्**=आनन्दित करते हैं। आनन्द-प्राप्ति का कारण मन की शुद्धता है 'आनन्द व

मन:प्रसाद' पर्यायवाची से हो गये हैं। एवं, मन की शुद्धि तो सत्य से होती है और शरीर-शुद्धि के लिए सोम की रक्षा आवश्यक है। मन व शरीर की शुद्धि होने पर आनन्द-प्राप्ति का न होना असम्भव है। संक्षेप में यह आवश्यक है कि हम (क) सत्य बोलें (ख) प्रसन्न रहें (ग) सोम की रक्षा द्वारा स्वस्थ शरीरवाले बनें। २. हे प्रभो! आप **दृढा चित् वसु**=बड़े दृढ़ व कठोर भी कनक (स्वर्ण) आदि धनों को **आरुजे**=छिन्न-भिन्न कर देते हो, उन्हें चूर्ण करके सबमें बाँटनेवाले होते हैं।

भावार्थ—वे अनिर्वचनीय, आनन्दमय, सत्यस्वरूप, सर्वाधिक आनन्द के दाता प्रभु सोमरक्षा के द्वारा हमारे जीवन को उल्लास से युक्त करते हैं। वे कठोर स्वर्णादि धनों को बाँट-बाँटकर सबके लिए देते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

जरितृणाम् अविता

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतये॥४१॥

१. हे प्रभो! आप **नः सखीनाम्**=हम मित्रों के **अभि**=आभिमुख्येन के **अविता**=उत्तम रक्षक होते हो और २. **जरितॄणाम्**=हम स्तोताओं के **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **ऊतये**=रक्षा के लिए **भवासि**=होते हैं। ३. प्रभु का रक्षण हमें तब प्राप्त होता है जब हम प्रभु के सखा व स्तोता बनते हैं। प्रभु के सखा बनने का अभिप्राय यह है कि प्रकृति-प्रवण होकर हम प्रभु को भूल न जाएँ। स्तोता बनने का अभिप्राय भी यही है कि प्रभु के गुणों का स्तवन करते हुए हम उन गुणों को धारण करने का प्रयत्न करें। प्रभु के गुणों को धारण करके यह सचमुच 'वामदेव'=सुन्दर, दिव्य गुणोंवाला बना है।

भावार्थ—हम प्रभु के सखा व स्तोता बनें, हमें प्रभुरक्षण प्राप्त होगा।

ऋषिः—**शंयुः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

अमृत-जातवेदस्

यज्ञायज्ञा वोऽअग्नये गिरागिरा च दक्षसे।
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम्॥४२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का सखा व स्तोता बनकर प्रभु का रक्षण प्राप्त करनेवाला यह शान्त जीवनवाला बनता है और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'शंयु' बनकर लोकहित के दृष्टिकोण से कार्यप्रवृत्त हुआ कहता है कि हे मनुष्यो! **यज्ञायज्ञा**=प्रत्येक यज्ञ के द्वारा **वः**=तुम्हारे **अग्नये**=आगे ले-चलनेवाले उस प्रभु के लिए **वयम्**=हम इस प्रभु को **प्रियम् मित्रम् न**=जो हमारे प्रिय मित्र के समान हैं, **अमृतम् प्रशंसिषम्**=वह अमृत है, इस रूप में प्रशंसित करता हूँ। प्रभु तो अमृत हैं ही, वे यज्ञों के द्वारा हमें भी मृत्यु से बचाते हैं। २. **च**=और **गिरागिरा**=एक-एक ज्ञान की वाणी के द्वारा **दक्षसे**=योग्यता को बढ़ानेवाले उस प्रभु को जो **प्रियं मित्रं न**=हमारे प्रिय मित्र के समान है, **जातवेदसं प्रशंसिषम्**=वह सम्पूर्ण ज्ञान का प्रादुर्भाव करनेवाला है, इस प्रकार प्रशंसित करते हैं। ये प्रभु तो सर्वज्ञ हैं ही, वे हमें भी इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा योग्य बनाते हैं। ३. इस प्रकार यज्ञों द्वारा हमें अमृत (नीरोग) व ज्ञान की वाणियों से हमें योग्य बनाते हुए वे प्रभु यह प्रेरणा दे रहे हैं कि तुम्हारी कर्मेन्द्रियाँ यज्ञों में व्याप्त हों और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की वाणियों के ग्रहण में।

भावार्थ—प्रभु अमृत हैं, यज्ञों द्वारा उन्नत होते हुए हम भी अमर बनने का प्रयत्न करें। प्रभु जातवेदाः हैं, प्रभु से दी गई इन ज्ञान की वाणियों से हम भी अपनी योग्यता को बढ़ानेवाले हों। संक्षेप में 'अमृत व जातवेदाः' बनकर ही हम 'शंयु'=शान्ति को प्राप्त होनेवाले होंगे।

ऋषिः—**भार्गवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

चार वाणियाँ

पाहि नोऽअग्नऽएकयाऽ पाह्युत द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥४३॥

१. गतमन्त्र में 'गिरागिरा च दक्षसे' इस वाक्य में जिस ज्ञान की वाणी का उल्लेख था, उसी का कुछ विस्तार से उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=विज्ञान के द्वारा अग्निवत् हमारे जीवन को प्रकाशित व उन्नत करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **एकया**=अपनी इस प्रथमस्थानीय ऋग्रूप विज्ञान की वाणी से **पाहि**=रक्षा प्राप्त कराइए। २. **उत**=और हे प्रभो! आप हमें **द्वितीयया**=इस यजुरूप—यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाली द्वितीय वेदवाणी के द्वारा भी **पाहि**=रक्षण प्राप्त कराइए। इसमें प्रतिपादित यज्ञ हमारे जीवन का भाग बनकर हमें नीरोग बनानेवाले हों। प्रथम विज्ञान की वाणी से ऐश्वर्य का अर्जन करके हम उस ऐश्वर्य का इन यज्ञों में ही विनियोग करें। ३. हे **ऊर्जाम्पते**=बल व प्राणशक्तियों के स्वामिन्! आप हमें **तिसृभिः गीर्भिः**=ऋग्यजुः के साथ इन तीसरी सामवाणियों के द्वारा **पाहि**=रक्षित कीजिए। इनके द्वारा आपकी उपासना करते हुए हम सचमुच आपकी शक्ति को अपने में प्रवाहित करनेवाले हों। हम भी ऊर्जाम्पति बनें। उपासना से हमें शक्ति प्राप्त हो। ४. हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **चतसृभिः**=ऋग्यजुः साम के साथ चौथी इस अथर्व की वाणी से आप हमें **पाहि**=इस संसार में सुरक्षित कीजिए। इस वाणी के मौलिक उपदेश को कि 'वाचस्पति बनो' हम ग्रहण करें। जिह्वा के संयम से भोजन को मात्रा में सेवन करते हुए हम अपने बल को बढ़ाएँ व रोगों को दूर भगाएँ। वाणी का संयम हमें मितभाषी बनाये और हम व्यर्थ के कलहों को उत्पन्न न होने दें। जिह्वा का संयम रोगों से बचाये और वाणी का संयम हमें झगड़ों से बचाये।

भावार्थ—हम ऋग्, यजुः साम व अथर्वरूप चारों वाणियों से चतुष्पाद् धर्म का सेवन करें। ऋचाओं द्वारा प्राप्त विज्ञान हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाए, यजुः में प्रतिपादित यज्ञ हमारी पवित्रता का कारण बनें। साम द्वारा की गई उपासना हमारे बल व प्राण का वर्धन करनेवाली हो तथा अथर्व के उपदेश से वाचस्पति बनकर हम इस शरीर व जगत् में अपने निवास को उत्तम बनाएँ। थोड़ा खाएँ—थोड़ा बोलें। इन वाणियों के द्वारा अपने ज्ञान का परिपाक करके हम मन्त्र के ऋषि 'भार्गव' बनें, 'भ्रस्ज पाके' अपना परिपाक करनेवाले।

ऋषिः—**शंयुः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

प्रभु के प्रति अर्पण

ऊर्जो नपात्स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये।
भुवद्वाजेष्वविता भुवद् वृधऽउत त्राता तनूनाम् ॥४४॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'ऊर्जाम्पते' इस प्रकार सम्बोधन किया था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी की ओर ध्यान दिलाते हुए कहते हैं कि **सः**=वह तू **ऊर्जः नपातम्**=शक्ति को न नष्ट होने देनेवाले उस प्रभु को **हिन**=अपने उत्तम कर्मों व उपासनों से प्रीणित कर (तर्पय—उ०) (हि

गतौ वृद्धौ च)। उत्तम कर्मोपासनाओं से प्रभु की ओर जा और उस प्रभु की महिला को बढ़ानेवाला बन। २. **अयम्**=ये प्रभु निश्चय से **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाले हैं, हमें चाहते हैं, हमें प्यार करते हैं। ३. **हव्यदातये**=हव्य पदार्थों के दान के लिए **दाशेम**=हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर दें, तो वे प्रभु हमें **वाजेषु**=वासनाओं के साथ होनेवाले संग्रामों में **अविता भुवत्**=हमारे रक्षक होते हैं। वे प्रभु इस शरणागत की **वृधे**=वृद्धि व उन्नति के लिए **भुवत्**=होते हैं। प्रभु के प्रति अर्पण करने पर, वे जिधर चलाएँ, उधर ही चलने पर हमारी उन्नति-ही-उन्नति होगी। **उत**=और वे प्रभु हमारे **तनूनाम्**=शरीरों के भी **त्राता**=रक्षक होते हैं। वे हमारी शक्तियों का विस्तार करते हैं और हमें आधि-व्याधियों से बचाते हैं। ५. इस प्रकार प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके यह व्यक्ति अत्यन्त शान्त जीवनवाला होता हुआ मन्त्र का ऋषि 'शंयु' बनता है।

भावार्थ—हम अपने कर्मों से प्रभु को प्रीणित करें। वे हमारा भला-ही-भला चाहते हैं। उनके प्रति हम अपना अर्पण कर दें, वे वासना-संग्राम में हमारी रक्षा करेंगे, हमारी वृद्धि का कारण होंगे, हमें आधि-व्याधियों से बचाएँगे।

ऋषिः—**शंयुः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदभिकृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**।

पूर्ण जीवन

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्द्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ताꣳसंवत्सरस्ते कल्पताम्। प्रेत्याऽएत्यै सं चाञ्च प्र च सारय। सुपर्णचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद॥४५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब प्रभु हमारे शरीरों के रक्षक होंगे तब हमारा जीवन निश्चय से सुन्दर बनेगा। प्रभु 'शंयु' से कहते हैं कि तू **संवत्सरः असि**=(संवसति) उत्तम निवासवाला है। २. **परिवत्सरः असि** (परिवसति) सम्पूर्ण कोशों में निवासवाला है, केवल अन्नमयकोश में ही रहा। तेरी दुनिया केवल खाने-पीने की ही दुनिया नहीं है। तेरा जीवन अधूरा न होकर समूचा (पूर्ण) है। ३. **इदावत्सरः असि** (इदा=इदनीम्)=तू वर्त्तमान काल में रहनेवाला है, तू भूत-भविष्य की बातें नहीं करता रहता। न तो तू भूत का राग अलापता रहता है और ना ही भविष्य के स्वप्न लेते रहता है। तू सदा वर्त्तमान को उत्तम बनाने का प्रयत्न करता है। ४. **इद्वत्सरः असि**=तू निश्चय से निवास करनेवाला है। तेरे जीवन में विकल्पों व संशयों का स्थान नहीं। ५. इस प्रकार तू **वत्सरः असि**=निवासवाला है, तेरा निवास सब प्रकार की जटिलता व संकरता (Complexes) से रहित है। यहाँ 'वत्सर' का पाँच बार प्रयोग इस बात का भी संकेत कर रहा है कि तू ने पाँचों भूतों से बने इस पाँचभौतिक शरीर में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से पाँचों प्राणशक्तियों का विकास करते हुए अपने 'पञ्चजन' नाम को चरितार्थ किया है। ६. **ते**=इस उत्तम निवासवाले तेरे लिए **उषसः कल्पन्ताम्**=सामार्थ्य को बढ़ानेवाले हों। इसी प्रकार **ते**=तेरे लिए **अहोरात्राः**=दिन व रात **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली हों, तेरे लिए **अर्धमासाः**=अर्धमास, शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्य का वर्धन करनेवाले हों। **मासाः ते कल्पन्ताम्**=वैशाख-ज्येष्ठ आदि मास भी तेरे लिए सामर्थ्य को दें। **ऋतवः ते कल्पन्ताम्**='ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर व वसन्त' ये ऋतुएँ भी तुझे शक्तिशाली बनाएँ और इन ऋतुओं से बना हुआ यह **संवत्सरः**=वर्ष **ते**

कल्पताम्=तेरे लिए शक्ति व सामर्थ्य को करनेवाला हो। ७. प्रभु कहते हैं कि अब तू **प्रेत्या**=खूब गतिशील बनकर (प्र इ) **च**=और **एत्यै**=मेरे समीप पहुँचने के लिए **सम् अञ्च**=सम्यक् गतिवाला हो, अर्थात् उत्तम कर्मों को करनेवाला बन **च**=तथा **प्रसारय**=अपनी शक्तियों का प्रकृष्ट प्रसार कर, शक्तियों को फैलानेवाला बन। ८. **सुपर्णचित् असि**=तू अपना उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला तथा ज्ञान को प्राप्त करनेवाला है (पर्ण पॄ पालनपूरणयोः चित् ज्ञान) ९. इस प्रकार **तया देवतया**=उस देवता, अर्थात् प्रभु के साथ सम्पर्क में रहकर **अंगिरस्वत्**=एक-एक अंग में रस के सञ्चारवाला होकर **ध्रुवः**=मर्यादा में चलनेवाला बनकर **सीद**=इस संसार में निवास कर। इस प्रकार के निवास में ही जीवन की शान्ति है और हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'शंयु' बन पाते है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा जीवन पाञ्चों भूतों, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व प्राणों के दृष्टिकोण से पूर्ण हो। सब काल-विभाग हमें शक्ति देनेवाले हों। उत्तम गतिवाले होकर हम अपनी शक्ति को फैलानेवाले बनें। स्वस्थ व ज्ञानी बनकर प्रभु-संग से रसमय-जीवनवाले होकर मर्यादामय जीवनवाले हों।

नोट—प्रभुसंग से ही जीवन रसमय होता है, अतः अगले अध्याय में इस प्रभु के सम्पर्क के साधनों व परिणामों के वर्णन से ही मन्त्रों का प्रारम्भ होता है। ये मन्त्र 'बृहदुक्थ वामदेव' ऋषि के हैं। बृहत् उत्कर्षवाला, अर्थात् वृद्धि के कारणभूत स्तोत्रोंवाले तथा सुन्दर दिव्य गुणोंवाले इस ऋषि के द्वारा निम्न मन्त्रों में प्रभु-प्राप्ति के साधनों का प्रतिपादन किया जाता है—

इति सप्तविंशोऽध्यायः॥